JETIR.ORG ISSN: 2349-5162 | ESTD Year : 2014 | Monthly Issue
JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)
An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

हिंदी की प्रमुख दलित आत्मकथाएं : एक विश्लेषण

(Major Dalit Autobiographies in Hindi: An analysis)

Author – Mukesh Kumar Verma, Assistant Professor Hindi Literature, Government Girl College Nagar Fort, Tonk, Rajasthan

Abstract : 21वीं सदी के भारत के सामने आर्थिक विषमता, सामाजिक भेदभाव, लिंग भेद, अशिक्षा, बढ़ती जनसंख्या आदि अनेक चुनौतियाँ हैं। अपने विकास के क्रम में आगे बढ़ते हुए कोई भी समाज अपने समय की चुनौतियों से बिना टकराए आगे नहीं बढ़ सकता। साहित्य मानवीय जीवन की समस्याओं से अपनी तरह से जूझता है। साहित्येतिहास में बहुत कम ऐसे अवसर आए हैं जब साहित्य ने अपने समय की चुनौतियों से बचने का प्रयास किया हो। समकालीन हिंदी साहित्य में दलित और स्त्री साहित्य की दो ऐसी धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं जो हमारे समाज के मूलभूत और पुरातन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न कर रही हैं। मराठी दलित साहित्य हिंदी समेत लगभग सभी भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत है। मराठी में दलित साहित्य सन् 1960 के आसपास उभरना आरम्भ होता है। लगभग तीस साल बाद 1990 के बाद हिंदी साहित्य में इसका प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी साहित्य में दलित आत्मकथाएं दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों के लिए लड़ने का साहस प्रदान करता है तथा साथ ही साथ अपने जीवन को सुन्दर बनाने का संदेश देता है। ये आत्मकथाएं भारतीय इतिहास का दस्तावेज है। इन आत्मकथाओं से दलित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति संगठित और सचेत होता है। शिक्षा के प्रति जागृत एवं नवीन चेतना पैदा होती है। आत्मकथा विधा से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

Keywords : हिन्दी, अनुभवों का चित्रण, असमानता, वंचित वर्ग, लेखन की प्रवृत्तियां, स्वानुभूति, परिवर्तन और प्रतिरोध, सामाजिक शोषण, सांस्कृतिक चेतना, आत्मकथा का स्वरूप, प्रमुख लेखक/लेखिका, निजी से सार्वजनिक, दलित, अस्मिता, साहित्यिक परंपरा दलित, साहित्य, आत्मकथा, पिछड़, स्त्रिय, भारतीय, इतिहास।

Article : दलित साहित्य उपर्युक्त दलित समाज के सभी प्रश्नों को अपनी रचनाओं में स्थान देता है। आत्मकथा दलित साहित्य के प्रमुख विधा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन), मोहनदास नैमिशराय (अपने–अपने पिंजरे), सूरजपाल चौहान (तिरस्कृत), कौसल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप) आदि दलित साहित्य के प्रमुख आत्मकथा लेखक हैं। इन सभी रचनाओं में दलित समाज की समस्याओं को भरपूर स्वर मिला है। अभिव्यक्ति के स्तर पर जो तीक्ष्णता और तिक्तता इन रचनाओं में दिखाई देता है वह अन्यत्र दुलर्भ है। समता स्थापना, नए समाज का निर्माण और जाति आधारित भेदभाव का समूल नाश जैसे लक्ष्य को संबोधित करने की दृष्टि से ये आत्मकथाएँ सफल दिखाई देती हैं। इनमें मनुष्य की अवमानना के अनेक रूपों को देख जा सकता है। दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त मनुष्य का दर्द व्यक्तिगत पीड़ा, एहसास से आरंभ होकर अन्ततः एकताबद्ध इकाई के रूप में परिणत हो जाता है। लेखक के निजी अनुभव अभिव्यक्ति के स्तर से ऊपर उठकर दलित आंदोलन के अस्त्र बनते दिखाई देते हैं।

बहुत हद तक दलितों के सामने वही चुनौतियाँ हैं जिनका ग्रामीण और शहरी भारत के निर्धन सामना करते हैं। जीवन यापन की समस्या का सामना प्रत्येक जाति और वर्ग के निर्धन को करना पड़ता है लेकिन साथ ही साथ यह भी तथ्य हमारे सामने है कि अन्य जातियों के मुकाबले दलित जातियों में निर्धनता

ज्यादा गहराई से पैठी हुई है। गरीबी के अलावा अस्पृश्यता, जाति प्रथा, आंतरिक सोपानीकरण, नव–ब्राह्मणवाद, रूढ़िवादी मानसिकता, भाग्यवाद इत्यादि कुछ ऐसे केंद्रीय समस्याएँ हैं जिन्हें दलित समाज के समग्र विकास में प्रमुख अवरोधक माना जा सकता है। हम इनमें से कुछ पर यहाँ विचार कर रहे हैं–
जाति के लिए अंग्रेजी में 'कास्ट' शब्द का प्रचलन है जो पूर्तगाली भाषा के 'कैस्टा' शब्द से बना है। कैस्टा का अर्थ नस्ल या वर्ग होता है। लेकिन भारतीय संदर्भ में 'जाति' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसका पर्याय संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं ढूँढ़ा जा सकता। जाति विशुद्ध भारतीय संकल्पना है। भारत में जाति व्यवस्था जितनी जटिल, सुव्यवस्थित और रूढ़ है उसकी तुलना शेष विश्व की किसी भी सामाजिक व्यवस्था से नहीं की जा सकतीं। भारत में लगभग 3000 जातियाँ हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने जाति प्रथा पर विचार करते हुए लिखा है कि, "जाति प्रथा ने हिंदुओं को एक समाज बनने से रोका है। इस धर्म में अनेक अंतर्विरोध हैं। और हरेक जाति पहले अपना स्वार्थ साधती है। हिंदुओं का साहित्य जातिवाद से भरा पड़ा है। हर प्रकार के सुधारों को रोकने का काम जाति करती है। जाति रूढिवादियों के हाथ में एक ऐसा शक्तिशाली अस्त्र है जिसका प्रयोग करके वे आवश्यक परिवर्तनों को रोकते हैं।" वर्ण और जाति में भिन्नता होते हुए भी ये एक–दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हैं। अक्सर दोनों का समान अर्थ में प्रयोग होता है लेकिन तात्विक रूप से इन दोनों अवधारणाओं में पर्याप्त अंतर है। पांडुरंग वामन काणे के अनुसार, "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक और बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का द्योतक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदंड पर बल देना न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किंतु इसके विपरीत जाति–व्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है और बिना कर्तव्यों के आचरण पर बल दिए केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है। "एम. एन. श्रीनिवास का मानना है कि, वर्तमान वास्तविक सोपान में जाति का स्थान बदलने की संभावना रहती है, जबकि वर्ण–व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण का स्थान सदा के लिए निर्धारित है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि वर्ण आदर्श में निहित यथार्थ की विकृति के बावजूद यह अभी तक जीवित रहा आया है।" वर्ण और जाति में सोपानीकरण अपरिहार्य रूप में मौजूद रहता है। और दोनों ही में ब्राह्मण सबसे ऊपरी पायदान पर रहता है। जाति का संबंध पेशे से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक जाति का अपना विशिष्ट पेशा है और हर जाति का व्यक्ति अपनी निश्चित सीमाओं के भीतर रहकर काम करता है। जाति की परिभाषा देते हुए रिजले का कथन है, "जाति ऐसे परिवारों या परिवार समूहों का संग्रह है जिनके समान नाम हों, जो एक ही पुश्तैनी व्यवसाय का प्रदर्शन करते हों और जिन्हें ऐसे सभी दूसरे व्यक्ति, जो इस संबंध में राय देने के अधिकारी हों, एक समांगी बिरादरी मानते हों। स्पष्ट है कि जाति की आंतरिक संरचना को सुदृढ बनाए रखने में उस जाति के पेशे का महत्वपूर्ण योगदान रहता है लेकिन आधुनिक समाज में कई जातियाँ अपने परंपरागत पेशों से बाहर निकलने के लिए संघर्ष कर रही हैं और कुछ काफी हद तक इसमें सफल भी हो गई हैं।
जाति का आधार जन्मना है। किसी का जिस जाति में जन्म होता है वह चाहकर भी उसका त्याग नहीं कर सकता। जन्म के अतिरिक्त किसी जाति में प्रवेश का कोई अन्य मार्ग नहीं है। आदमी अपना धर्म तो बदल सकता है लेकिन जाति नहीं। समकालीन समाज में पेशेगत शिथिलता के कारण कोई अपना आर्थिक स्तर तो सुधार सकता है लेकिन सामाजिक स्तर को सुधारना आज भी संभव नहीं है। इस संदर्भ में शेरिंग का कथन बहुत रोचक है जिसमें वह कहता है कि, "जाति व्यवस्था में समझौते की गुंजाइश नहीं। अनपढ़ से अनपढ़ हिंदू भी सबसे बुद्धिमान व्यक्ति से इसके नियम मनवा सकता है।" जाति एक ऐसा दिशासूचक यंत्र है जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन की दिशा को निर्धारित कर देता है। अगर कोई उस राह से अलग जीवन जीना चाहे तो इसकी छूट जाति–व्यवस्था में नहीं है। उसी राह पर उसे अपनी जीवन साथी, अपने मित्र, अपना काम और अपने धार्मिक रीति–रिवाज मिलते हैं। प्रत्येक जाति अपने सदस्यों की जीवन पद्धति को पूरी तरह नियंत्रित करती है।

हिंदी दलित आत्मकथाएँ डॉ. भीमराव अंबेडकर के जाति व्यवस्था विषयक विचारों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। 'अपने–अपने पिंजरे' में जाति व्यवस्था से घायल मन की व्यथा मुखर करते हुए मोहनदास नैमिशराय का कथन है कि, "हम लम्बे समय से अपमान सहते आए थे, पर गुनहगार न थे हम। हम हारे हुए लोग थे जिन्हें आर्यों ने जीतकर हाशिए पर डाल दिया था। हमारे पास अंग्रेजों के द्वारा दिए गए तमगे, मेडल, पुरस्कार न थे। हमारे पास था सिर्फ कड़वा अतीत और जख्मी अनुभव।" एक दूसरा उदाहरण देखिए, "हमारी जात के योद्धा कितनी बार हारे होंगे, कितनी बार टूट–टूटकर बिखरे होंगे। जब इस देश में आर्य आए होंगे। कितनी यातनाएँ सहनी नहीं पड़ी इस देश के मूल निवासियों को। वही यातनाएँ हज़ारों सालों से आज भी झेल रहे हैं।" इन आत्मकथाओं में लेखकों ने स्थान–स्थान पर जाति प्रथा के दंश को अभिव्यक्त किया है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि युवावस्था में अपनी प्रेमिका के साथ हुए संवाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, "मैंने साफ शब्दों में कह दिया था कि मैंने उत्तरप्रदेश के चूहड़ा परिवार में जन्म लिया है। सविता गंभीर हो गई थी। उसकी आँखें छलछला आईं। उसने रुआँसी होकर कहा, "झूठ बोल रहे हो न?" "नहीं सवि––– यह सच है जो तुम्हे जान लेना चाहिए" मैंने उसे यकीन दिलाया था। वह रोने लगी थी। मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हज़ारों सालों की नफरत हमारे दिलों में भर गई थी। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।" हालाँकि इन लेखकों के मन में अपनी जाति को लेकर कोई हीनताबोध नहीं है। वे अपनी रचनाओं में अपनी जाति के भीतर फैली कुरीतियों का खुलकर वर्णन करते हैं।

अशिक्षा– विषमतामूलक समाज के चरित्र की सबसे बड़ी खासियत यह होती है कि उसमें शिक्षा के स्तर पर भी पर्याप्त विषमता होती है। शिक्षा वर्चस्ववादी वर्ग का सबसे सूक्ष्म अस्त्र होती है। इस क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता कायम रखने का अर्थ जीवन के हर क्षेत्र में कब्जा होना है। यही कारण है कि है कि समाज परिवर्तन के लक्ष्य को लेकर चलने वाले अधिकांश विचारकों ने निम्नवर्ग को इसका महत्त्व समझाने का प्रयास किया है। दलितों की शिक्षा के बारे में सवर्णों की मानसिकता को 'जूठन' में आए प्रसंग से देखा जा सकता है। झाडू न लगाने देने के पिता के फैसले के बाद लेखक को स्कूल से निकाल दिया जाता है। लेखक का पिता गाँव के बड़े लोगों के पास जब अपने बच्चे की सिफारिश के लिए पहुँचता है तो उनकी तरफ से होने वाली प्रतिक्रिया देखिए, "जिसका भी दरवाजा खटखटाया यही उत्तर मिला, "क्या करोगे स्कूल भेजके" या "कौवा बी कबी हंस बण सके", "तुम अनपढ़ गँवार लोग क्या जाणो, विद्या ऐसे हासिल ना होती।", "अरे! चूहड़े के जाकत कू झाडू लगाने कू कह दिया तो कोण–सा जुल्म हो गया", या फिर "झाडू ही तो लगवाई है, द्रोणाचार्य की तरियों गुरु–दक्षिणा में अँगूठा तो नहीं माँगा" आदि–आदि। 9 एक अन्य प्रसंग में सूरजभान तगा के बेटे बृजेश द्वारा कीचड़ में धकेल दिए जाने पर भी लेखक शिक्षा के प्रति अपनी आस्था को डगमगाने नहीं देता। वह लिखता है कि "स्कूल के नल पर मैंने हाथ–पाँव धोए थे। किताबें कापियाँ धूप में सुखाई थीं। मेरा मन बहुत दुःखी हो गया था उस रोज। लग रहा था जैसे पढ़ना–लिखना अपने हिस्से में नहीं है। लेकिन पिताजी का चेहरा सामने आते ही उनकी बातें याद आने लगी थीं, 'पढ़–लिखकर जाति सुधारनी है। "शिक्षा विकास करने का एकमात्र रास्ता है इस तथ्य को एक बार समझ लेने के बाद रास्ते में आने वाली रुकावटों से निपटने में आसानी हो जाती है।

अस्पृश्यता – अस्पृश्यता का सामान्य अर्थ 'अस्पृश्य या अछूत होने की अवस्था या भाव, धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों से किसी अस्पृश्य को न छूने का विचार या भाव' 11 होता है। अंग्रेजी में अस्पृश्यता के लिए 'अनटचेबिलिटी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सन् 1931 की जनगणना के अधीक्षक जे.एच. हटन ने जनगणना अधीक्षकों को हिदायत देते हुए लिखा कि, "ये वे जातियाँ हैं जिनके स्पर्श से स्वर्ण हिंदुओं को स्नानादि कर शुद्ध होने की आवश्यकता होती है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इस शब्द को व्यवसायों के संदर्भ में लें। किन्तु इसका संबंध उन जातियों से है जिनको हिंदू समाज में उनकी परंपरागत स्थिति के कारण कुछ अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है– उदाहरणार्थ उन्हें मंदिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता या उन्हें पृथक कुओं का इस्तेमाल करना पड़ता है या जिन्हें स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ

बैठने नहीं दिया जाता और उन्हें भवन से बाहर रहना पड़ता है या जो इसी प्रकार की अयोग्यताओं का शिकार हैं। "अस्पृश्यता के आरंभ और विकास के बारे में कोई निश्चित मत नहीं मिलता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने 400 ईसा पूर्व से अस्पृश्यता का आरंभ माना है। लेकिन यह तो तय है कि उससे पहले भी अस्पृश्यता किसी न किसी रूप में विद्यमान रही होगी। अस्पृश्यता के आरंभ पर विचार करते हुए वामन पांडुरंग काणे ने पाँच कारण गिनाए हैं। उन्होंने माना है कि अस्पृश्यता केवल जन्म से ही उत्पन्न नहीं होती बल्कि इसके उद्गम के कई अन्य स्रोत भी हैं। मनुस्मृति को आधार बनाकर उन्होंने पहला कारण बताते हुए लिखा है कि, "ब्रह्म हत्या करने वाले, ब्राह्मणों के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए, न तो कोई उनके साथ खाए, न उन्हें स्पर्श करे, न उनकी पुरोहिती करे और न उनके साथ कोई विवाह संबध स्थापित करे, वे लोग वैदिक धर्म से विहीन होकर संसार में विचरण करें।" दूसरा कारण उन्होंने धार्मिक विद्वेष और घृणा को माना है। "बौद्धों पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, कापिलों (सांख्यों), धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों एवं नास्तिकों को छूने पर वस्त्र के साथ स्नान कर लेना चाहिए।" अस्पृश्यता का तीसरा कारण उन्होंने व्यवसाय को माना है। "कुछ लोगों को जो साधारणतः अस्पृश्य नहीं हो सकते थे, कुछ विशेष व्यवसायों का पालन करना, यथा देवलक (जो धन धन के के लिए लिए तीन वर्ष त तक मूर्तिपूजा करता है।), ग्राम के पुरोहित, सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से परिधान सहित स्नान करना पड़ता था।" कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में भी अस्पृश्यता के विधान को चौथा कारण माना जाता था। "रजस्वला स्त्री के स्पर्श, सूतक में स्पर्श, शव स्पर्श आदि में वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था।"

हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन आत्मकथाओं में दलितों ने सवर्ण समाज द्वारा दी गई पीड़ा को भोगा है, उन्हीं का यथार्थ चित्रण है। सदियों की गुलामी, विषमता, अमानवीयता में जीने को बाध्य होने के बाद बदलते सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश के माध्यम से दलितों में जिस चेतना के बीज अंकुरित हुए हैं, उनका एक विहंगम दृश्य इन आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। दलित साहित्यकारों की रचनाओं ने और विशेषकर आत्मकथाओं ने समाज के सम्मुख यह उधाड़ कर रख दिया कि हमने कैसी क्रूर, निर्दयी व्यवस्था में सांस लेते हुए घुटनभरी जिंदगी जी है और वह सभ्य और सुसंस्कृत कहीं जाने वाली भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था में । दलित रचनाकारों ने समाज के उस वर्ग की दुःख–दर्द, हंसी–खुशी तथा जीवन के अनेक ऐसे पहलुओं को वाणी प्रदान की है, जिसको हजारों वर्षों से वंचित रखा गया है । इसके साथ ही बदलते सन्दर्भों में दलित समाज में जो संघर्ष व चेतना उभरकर आई है, दलित आत्मकथाकारों ने उसको भी अपनी रचनात्मक भाव भूमि को आधार बनाया है। साठ के दशक में दलित आत्मकथाओं का आना किसी क्रान्ति से कम नहीं था, पहले यह मराठी साहित्य में आया फिर यह हिन्दी साहित्य में आया, साहित्य में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन का दौर रहा है। सामाजिक बदलाव की इस धारा का किसी ने समर्थन किया तो किसी ने विरोध, कहीं सहमति थी तो कहीं असहमति। इन दलित साहित्य में सबकुछ यथार्थ है, यहॉ किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है । मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि दलित साहित्य के जीवन से रिश्ते रहे हैं, आन्दोलन उनकी ऊर्जा है। मेरी राय में वह जीवन उनका अपना है, उसे उन्होंने अपनी मर्जी से जीने की शुरूआत की, आखिर वे कब तक वे हिन्दू धर्म की परम्पराओं तथा प्रथाओं को ओढ़ते–बिछाते रहते, कब तक वे सामन्तों, पुरोहितों के सामने याचक बने खड़े रहते? देर से ही सही उन्होंने अपने फैसले स्वयं लिए।

जय प्रकाश कर्दम के विचार में ''आत्मकथा लिखना निःसंदेह एक हिम्मत और जोखिम का काम है, बल्कि यूं कहिए कि तलवार की धार पर नंगे पैर चलना है। यदि लेखक सच्चाई पर टिका रहेगा तो उसका लहूलुहान होना लगभग निश्चित है, क्योंकि आत्मकथा नंगी सच्चाई की मांग करती है और इतना साहस बहुत कम लोगों में होता है, जो सामाजिक यथार्थ के साथ–साथ अपने जीवन के नंगे यथार्थ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सके।''

आत्मकथाओं में जातीय संकीर्णता से बाहर निकलने की छटपटाहट है तथा संघर्ष की ओर आगे बढ़ने की

सीख भी देता है। यहां दलित के जन्म के साथ दुखों की खाईं भी प्रारम्भ होती है। इसीलिए दलित आत्मकथाएं अपनी अंतर्वेदना को अभिव्यक्ति करने में सक्षम दिखाई पड़ती है । इन आत्मकथाओं में जीवन अनुभव तथा आपबीती के साथ–साथ हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के पोल खोलने में दलित आत्मकथाएं सफल रही है। दलित जीवन की पीड़ाएं, असहनीय और अनुभव दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी व्यवस्था में हमने साँसे ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है।

निष्कर्ष : भारत के समक्ष वर्तमान चुनौतियों को भली प्रकार से समझने के लिए छठे–सातवें दशक से आज तक विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखे गए दलित लेखकों के जीवन वृतांतों का अध्ययन आवश्यक है। मराठी से आरंभ हुए वृतांतों से प्रेरणा पाकर आज भारत की अधिकांश भाषाओं में आत्मकथा के रूप में समाज के दबे–कुचले वर्ग को अभिव्यक्ति मिल रही है। भारतीय समाज दलित लेखकों के लिए ऐसी विवशता पैदा कर देता है कि उसके सामने अपने यथार्थ की अभिव्यक्ति के अलावा कोई दूसरा रास्ता ही नहीं बचता। अपने भूतकाल को समस्त कारुणिकता के साथ दर्ज करवाने की चाह, सामाजिक इतिहास को वर्णित करने की इच्छा, अनुकरणीय जीवन का दस्तावेज़ तैयार करने की अभिलाषा, दर्दनाक मवाद को जड़ से बाहर निकालने की छटपटाहट, अपनी दृढ़ता की अभिव्यक्ति, मनुष्य की कोटि में रखे जाने के लिए संघर्ष, शिक्षा पर एक अस्त्र के रूप में अटल विश्वास, आगे की लड़ाई के लिए अतीत की पुनर्व्याख्या आदि दलित आत्मकथाओं को लिखने के कारण के प्रमुख कारण हैं।

References :

1. राजेश पासवान, दलित आत्मकथाओं की जरूरत, हंस, अगस्त 2004, पृ0सं0 106
2. मोहनदास नैमिशराय, अपने–अपने पिंजरे की भूमिका से डॉ0 महीप सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृ0सं0 8
3. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी रवीन्द्र भवन 35 नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018 पृ0सं0 172
4. जयप्रकाश कर्दम, नया मानदंड, (दलित आत्मकथा पर केन्द्रित अंक) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शोध संस्था दुर्गा कुंड, वाराणसी, 2003 पृ0सं0 15
5. सुधीश पचौरी, कुछ उत्तर उपन्यास, कुछ उत्तर आधुनिक क्षण और कुछ उत्तर औपनिवेशिक पाठ, वर्तमान साहित्य, अंक–जनवरी–फरवरी, 2000 पृ0सं0 285–287